ॐ

दशश्लोकी

श्रीमच्छंकराचार्यविरचित

मानसोल्लास नाम की

भाषा टीका सहित

लेखकः—

विद्याभास्कर रामावतार शास्त्री वेदान्ततीर्थ

प्रथमवार १०००

संवत् १९८९

मूल्य ।

13,187

श्री सन्मति पुस्तकालय जयपुर

भूमिका

भागीरथी तीरनिवासी अपने गुरुदेव प्रातःस्मरणीय श्री० अच्युत मुनि जी की प्रेरणा से श्रीआद्यशंकराचार्य के लगभग ४५ ग्रन्थों की भाषा टीका हमने कर रखी है । इण्डियन प्रेस जैसे पुस्तक प्रकाशकों ने यदि हमें धोके में न डाला होता तो ये सब ग्रन्थ कभी के पाठकों के हाथ में पहुँच चुके होते । पहले पुस्तक लिखना और फिर पुस्तक प्रकाशन में पूँजी फंसाना और फिर उस पूँजी को निकालना ये सब काम किसी स्वाध्याय प्रेमी से होने अत्यन्त कठिन हैं, इसी कारण से उन के प्रकाशन का विचार अबतक स्थगित रहा । अब इस दशश्लोकी को नमूने के तौर पर इस आशा से प्रकाशित कर रहे हैं कि यदि इसे पसन्द किया गया तो उन पुस्तकों के प्रकाशन का भी कोई उपाय सोचा जायगा ।

इसकी टीका में श्रीमधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्त विन्दु से हमने विशेष सहायता ली है । उनका ऋण तो हम पर है ही ।

स्थानः—
रतनगढ़ ज़ि० बिजनौर
यू० पी०

निवेदकः—
रामावतार

* ॐ

'मानसोल्लास' नामक हिन्दी टीका सहित

* दशश्लोकी *

****

(*मैं का मुख्य अर्थ क्या है ?*)

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥ १ ॥

मैं भूमि जल अग्नि वायु आकाश इन्द्रिय अथवा इन सब का समूह (शरीर) कुछ भी नहीं हूं। क्योंकि ये सब अनैकान्तिक हैं (आज हैं कल नहीं) मैं तो केवल वही शिव तत्व हूं जो कि सुषुप्ति अवस्था के आजाने पर एक अव्यभिचारी ज्ञानरूपी तत्व शेष रहा हुआ ज्ञानी लोगों को दीखा करता है।

भूमि जल तेज वायु आकाश इन्द्रिय अथवा इन सब से मिल कर बना हुआ यह डेढ़ दो मन का जीवित देह भी मैं नहीं हूं। मेरे स्वरूप को यदि कोई देखना ही चाहे तो वह मेरे साथ सुषुप्ति अवस्था में चले। तब मैं उसे दिखाऊँ कि अब उन भूमि आदि भूतों उन इन्द्रियों तथा उस देहसे मेरा सम्बन्ध कहां रह गया है ? ये सब मेरे साथ कहां रहते हैं ? दार्शनिक

बोल चाल में यह सब अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी या विनाशी हैं। देखते नहीं हो कि ये पांच भूत तथा इन सबसे बना हुआ यह देह तो मेरे साथ जाग्रत काल तक ही चलता है, स्वप्नावस्था आते ही यह मुझ से विदा हो जाता है। यह इन्द्रियें भी केवल स्वप्नावस्था तक ही मेरा साथ देती हैं, सुषुप्ति अवस्था के आने पर ये भी मुझ से बिगड़ जाती हैं। अब तुम स्वयं देख ही रहे हो कि उन सब दिखावटी झूठे साथियों में से एक भी मेरे साथ नहीं रह गया है। इस सुषुप्ति अवस्था में सब साथियों के बिछुड़ जाने पर जैसा कुछ मेरा स्वरूप तुम देख रहे हो, यही तो मेरा वास्तविक स्वरूप है क्योंकि अब मैं किसी से हिल मिल नहीं रहा हूं। देह इन्द्रिय आदि की गड़ बड़ के कारण जाग्रत तथा स्वप्न में मेरा यथार्थ स्वरूप अजनबी लोगों को दीख ही नहीं पड़ता, क्योंकि वे अकृतबुद्धि लोग उस समय मुझे पहिचानने में चूक कर जाते हैं। सो भाई सुषुप्ति अवस्था के दृष्टान्त से जो तत्व सिद्ध होता है अथवा जो एक मात्र तत्व उस समय शेष रह जाता है वही केवल तथा कल्याण स्वरूप तत्व ही तो मैं हूँ। क्या तुम मुझे पहिचान लेने की कृपा करोगे। यदि कहा जाय कि उस समय तो आत्मा का ध्वंस हो जाता है तो बताओ कि उसके ध्वंस अथवा नाश को ग्रहण करने वाला कौन होता है। जो उस ध्वंस को ग्रहण करता है उसी को आत्मतत्त्व समझ लेना चाहिये।

तात्पर्य यही है कि सुषुप्ति का साक्षी होने के कारण यह आत्म-तत्व उस समय न रहता हो किंवा नष्ट हो जाता हो ऐसा नहीं हो सकता। यदि उस समय यह न रहे तो सोकर उठे हुये लोग यह कैसे कह सकें कि 'मैं उस समय मूढ़ हो गया था।'

कहने का भाव यह है कि प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति और प्रमेय के व्यभिचारी होने पर भी इनके भाव और अभाव दोनों ही के साक्षी इस आत्मतत्वका कभी भी व्यभिचार नहीं हो सकता। ऐसे इस अव्यभिचारी आत्मतत्व का जो देहादियों में अध्यास हो गया है उसका कारण अज्ञान ही है। उसी अज्ञानको माया, अविद्या, अनिर्वाच्य, अनृत तथा तत्व ज्ञान से विनाश्य भी कहा जाता है। जब चैतन्य अज्ञानाध्यास से युक्त हो जाता है तो उसी में अहंकाराध्यास को भी अवकाश (मौका) मिल जाता है। अहंकार के अध्यास से युक्त चैतन्य में ही अहंकार के धर्म काम संकल्पादि ज्ञानेन्द्रियों के धर्म काणत्व तथा बधिरत्व आदि तथा कर्मेन्द्रियों के क्लीवत्व पङ्गुत्व आदि धर्मों का अध्यास हो जाता है (चैतन्य में इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता क्योंकि इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल इन्द्रिय के धर्मों का ही अध्यास हुआ करता है) प्रतीति के कारण से ही ऐसा मानना पड़ता है कि परोक्ष धर्मी का अध्यास ही नहीं होता। अहंकार तथा इन्द्रियों में अध्यास करने वाले चैतन्य में ही स्थूल देह का अध्यास हो जाता है जिससे कि 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा भान लोगों को होने लगता है। ('मैं देह हूं' ऐसा अध्यास नहीं होता यह बात भी अनुभव के अनुसार ही माननी पड़ती है।) इस स्थूल देह का अध्यास कर चुकने के बाद देह के स्थूलता कृशता, गौरता, लघुता आदि का अध्यास भी अनिवार्य होजाता है। इन सब अध्यासों से युक्त चैतन्य में शरीर के सकलता विकलता आदि धर्मों के तथा बाह्य पुत्र भार्यादियों के अध्यास की एक परम्परा ही चल पड़ती है। जहां एक तरफ चैतन्य में इन सब का अध्यास होता है वहां इन (अहंकारादियों) में भी चैतन्य का अध्यास संसर्ग के कारण हो ही जाता है। जिस

के अध्यास में शुद्ध चैतन्य से जितना जितना अधिक व्यवधान होता है उसमें उसी परिमाण से प्रेम का तरतम भाव पाया जाता है। यही कारण है कि धनैश्वर्य से पुत्र प्यारा होता है। पुत्र से अपना स्थूल देह अधिक प्यार की वस्तु है। स्थूल देह से इन्द्रियों को अधिक प्यार किया जाता है (जभी तो प्रहार के समय अथवा अन्य किसी भय के समय चक्षु आदि इन्द्रियों को मींच कर बचाने का प्रयत्न किया जाता है और शरीर को उस भय के मुकाबले के लिये योंही छोड़ दिया जाता है) इन्द्रियों से अधिक प्यार प्राणों को किया जाता है। प्राणों से भी अधिक प्यारा तो यह सर्वान्तर आत्मतत्त्व ही है। इस से अधिक प्रिय कोई भी वस्तु इस संसार में नहीं है। यों इस चेतन तथा इन जड़ पदार्थों का परस्पर अन्योन्याध्यास हुआ करता है। इस अध्यास को 'चिदचिद्ग्रन्थि' (चैतन्य तथा जड़ की एक गांठ) कहा जाता है। यदि इन में से किसी एक का ही अध्यास माना जाय तो किसी एक का ही भान हो सकेगा दूसरे का भान होना कदापि सम्भव न होगा। भ्रम का यह एक सर्वमान्य नियम है कि केवल अध्यस्त पदार्थ का ही भ्रमस्थल में भान हुआ करता है। जब कि हमें जड़ और चेतन दोनों को ही प्रतीति हो रही है तो दोनों का ही परस्पराध्यास हमें विवश होकर मानना पड़ता है। इन सब अध्यस्त पदार्थों की बाधा करते करते हम वेदान्ती लोग सब को बाधा के अनन्तर शेष रह जाने वाले शुद्ध चैतन्य को शेष रख लेते हैं, इस कारण शून्यवादी के सिद्धान्त में हमारा अन्तर्भाव नहीं हो जाता। क्योंकि सत्य और मिथ्या के अभेद की प्रतीति ही तो अध्यास कहाती है। जिन अध्यासों का वर्णन ऊपर किया

गया है इनका कारण पूर्वपूर्वाध्यास ही होता है। बीजांकुर-न्याय के समान यह अध्यास अनादि काल से यों ही प्रवाह से चला आ रहा है। परन्तु अविद्याध्यास इस प्रकार बार २ उत्पन्न नहीं होता वह तो अनादि काल से ज्यों का त्यों एक ही है। यह अध्यास जब किसी की समझ में आ जाता है तो वह इस बात को सहज ही समझ सकता है कि एक ही आत्म-तत्व जीवेश्वरादि भेद के रूप में क्यों प्रतीत हो रहा है तथा प्रमाण प्रमेयादि की व्यवस्था क्योंकर हो गयी है 'जीवेश्वरादि का भेद किस २ रीति से व्यवस्थित हो गया है'? यह सब जानना हो तो वेदान्त के दूसरे ग्रन्थों को देखना चाहिए। जिस किसी मुनि को प्रत्यगात्मा का परिज्ञान जिस किसी प्रक्रिया से हुआ अथवा जिस रीति से उसके जिज्ञासुओं को बोध हुआ है वह उसी प्रक्रिया को अच्छा मान लेता है उस प्रक्रिया के विषय में ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध (आग्रह) लगाया नहीं जा सकता कि यही प्रक्रिया सर्वश्रेष्ठ है युद्ध के प्रसंग में जिस रीति से शत्रु पर विजय प्राप्त हो वही सर्वोत्तम विजयोपाय कहा जाता है। इसी प्रकार अज्ञान शत्रु पर विजय पाने के लिये जो मुनि जिस किसी प्रक्रिया व्यूह की रचना करे उसी को उस प्रसंग में सर्वोत्तम मान लेना चाहिए। ध्यान में रखने योग्य बात तो केवल इतनी ही है कि श्रुति के महातात्पर्य से जिस प्रक्रिया का या जिस कल्पना का विरोध होता हो उसका तो परित्याग कर देना ही लाभ दायक होता है।

(अध्यात्म विचार में गम्भीर उतर जाने पर पता चलता है कि वर्णाश्रमादि व्यवहार का कोई पुष्ट सत्य आधार नहीं है।)

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोपि।
अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहानात्
तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम्॥२॥

अनात्मा अर्थात् आत्माविरोधनी अविद्या के कारण उत्पन्न होने वाला मेरा अहंकार और ममकार रूपी भ्रम जब (तत्वज्ञान के प्रभाव से) निवृत्त हो गया तो मुझे ज्ञान हुआ है कि कोई (ब्राह्मणत्व आदि) वर्ण अथवा (ब्रह्मचर्यादि) आश्रम वर्णाश्रम के कोई भी (स्नान शौचादि) आचार तथा ब्रह्मचर्यादि धर्म मेरे नहीं हैं। धारणा ध्यान योग अथवा श्रवण भजन आदि से भी मेरा कोई वास्ता नहीं रहा है। ('मैं' और 'मेरे' के अध्यास के निकल जाने पर वर्णाश्रम आदि के व्यवहार के छूट जाने पर धारणा ध्यान तथा योगादियों के भूल जाने पर धुआं उठाने वाले ईंधन के जल चुकने पर शान्ति पूर्वक दहकते हुए निर्धूम अग्नि के समान) इन सब के बाद जो एक केवल तत्व शेष रह जाता है वही तत्व मैं हूँ।

सुषुप्ति के दृष्टान्त से जबसे मुझे अपने यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है तभी से इन शरीरादि पदार्थों में से निकल कर मेरी अहन्ता और ममता दिग्दिगन्त को पलायन करगयी और अब ढूंढे भी हाथ नहीं आती है अब भला मैं इस शरीर के ब्राह्मणत्व आदि वर्ण तथा वर्णाश्रम के लिये विधान किये हुये

आचारों और धर्मों को अपना कैसे मान बैठूँ । सत्य बात तो यह है कि वर्णों अथवा वर्णाश्रम के आचार धर्मों से मेरा वास्ता ही क्या है ? धारणा, ध्यान अथवा योगादि करने की मुझे आत्मतत्त्व को आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि मुझे इस धोके में डालने वाला मेरा अविद्या जन्म अध्यास ही मर चुका है। मैं अब इन शरीरादियों में से किसी को न तो 'मैं' ही कहने को तयार हूं और न अब किसी को 'मेरा' कहने का ही साहस होता है। इस प्रकार मैं और मेरेपन के नष्ट हो जाने पर जो कोई तत्त्व शेष रह जाता है पहले तुम अपने पवित्र मन में उस निर्धूम तत्त्व की दृढ़कल्पना कर लो, और फिर यह समझ लो कि वह केवल रहा हुआ कल्याण स्वरूप तत्त्व ही तो मैं हूं। मैं तो इस मायिक संसार में वर्णों तथा आश्रमादियों का भ्रम पूर्ण अभिनय करता हुआ इन क्रियमाण देही में ही लुका छिपा फिर रहा हूं। क्या तुम मेरे इस सुलभ स्वरूप को भी पहिचान नहीं सकते हो। यह बात मैं तुम्हारे मन में कैसे बैठाऊं ? कि मुझे पहिचानने में ही तुम्हारा महाकल्याण छिपा हुआ है। क्या तुम समझते नहीं हो कि यदि किसी युक्ति से तुमसे यह शरीर अभी छीन लिया जाय तो तुम्हारा वर्ण क्या होगा ? तुम्हारे वर्णाश्रम धर्म क्या होंगे ? तुम धारणा ध्यान अथवा योग कैसे और क्यों करोगे ? उस समय तुम जिस दिव्य असहाय अवस्था में होगे, वही तो तुम्हारा यथार्थ स्वरूप है। उसको तुम अभी ही क्यों नहीं पहिचान लेते और कृतकृत्यता के दुर्ग पर अपने अनन्त साम्राज्य की स्थापना क्यों नहीं कर लेते हो ?

(जब सुषुप्ति आती है तो यह सब लौकिक वैदिक व्यवहार लुप्त हो जाता है तब केवल आत्मा ही रह जाती है)

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्
तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥३॥

(शरीरादियों में से मैं और मेरे की भावना के निकल जाने पर) कोई भी ज्ञानी यह नहीं कह सकता कि ये मेरे माता पिता हैं, ये मेरे पूज्य देवता हैं, ये मेरे प्राप्तव्य स्वर्गादिलोक हैं, ये मेरे हितोपदेशक वेदशास्त्र हैं, मुझे स्वर्गति दिलाने वाले ये मेरे कर्तव्य यज्ञ हैं, यज्ञ करने योग्य ये मेरे तीर्थ धाम हैं, क्यों· कि सुषुप्ति अवस्था के आ जाने पर जब यह सिद्ध हो जाता है कि यह आत्मतत्व उस समय एक अत्यन्त शून्य पदार्थ नहीं है विवेचक की दृष्टि से उस समय जो एक मात्र तत्व शेष रह जाता है वही केवल शिवस्वरूप तत्व मैं हूं ।

जब कोई मूर्ख प्राणी अपनी मूर्खता से श्वापदों के भोजन अग्नि के ईंधन इस हाड मांस के बने हुये मापक यन्त्र को ही अहंभाव से उठा लेते हैं और ब्रह्माण्ड की वस्तुओं को इसी झूठे पैमाने से मापना शुरु कर देते हैं तो वे अहंकारी लोग किसी को माता किसी को पिता किसी को लोक किसी को वेद किसी को यज्ञ तथा किसी को तीर्थ कह देते हैं । परन्तु सुषुप्ति अवस्था के आने पर जब कि यह देह रूपी पैमाना उनके अहंकार रूपी हाथ में से अपने आप

ही छूट पड़ता है तो बताओ कि उस अवस्था में कौन किस की माता ? कौन किसका पिता ? कौन किस के देवता ? कौन किसके प्राप्तव्य लोक ? कौन किस को मार्ग दिखलाने वाले वेद-शास्त्र ? कौन किस को स्वर्गति देने वाले यज्ञ ? तथा कौन किसके सत्संग किंवा यज्ञादि करने के तीर्थ स्थान हों ? देखो सुषुप्ति के समय जब कि समस्त ब्रह्माण्ड को अपने ही तुच्छ दृष्टि कोण से नापने का यह शरीर नाम का मोप डण्ड (पैमाना) हमारे पास नहीं रहता और केवल एक शुद्ध तथा अहंकार हीन आत्मतत्व शेष रह जाता है उस समय के उस नित्य शुद्ध आत्म-तत्व के माता पिता आदि कुछ भी नहीं होते। क्योंकि माता पिता, देवता, लोक, वेद, यज्ञ तथा तीर्थ का सम्बन्ध इस शरीर के साथ ही तो होता है। वह शरीर ही तो अब इससे वियुक्त हो चुका है। फिर किस आधार से किस को सच्चा माता पिता आदि कह दिया जाय। शरीर में जिसका अहंभाव है उसी के माता पिता होते हैं। देवता लोग भी उसी का उपकार कर सकते हैं। लोकों की प्राप्ति भी उसी को होती है। वेद भी उसी को शुभ मार्ग दिखा सकते हैं। यज्ञों का अनुष्ठान भी उसी से हो सकता है। तीर्थाटन का विचार भी उसी को हुआ करता है। सुषुप्ति अवस्था के आ जाने पर जब इस शरीर में अहं और मम भावना नहीं रह जाती तब भी "*अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता भवति*" (बृ-४-३-२२) माता माता नहीं रहती पिता अपिता हो जाता है) *अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा* (बृ० ४-५-१४) *यद्वैतन्नपश्यति पश्यन्वैतन्नपश्यति* (बृ० ४—३—२३) *नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्*

(बृ० ४-३-२३) अरे मैत्रेयी यह आत्मतत्व अविनाशी है इसका उच्छेद कभी नहीं होता। उस समय यह जो कुछ भी देखता नहीं है उसका कारण यह कदापि नहीं है कि वह अब देख ही नहीं रहा है। वह देख तो रहा है परन्तु अब दीखने की चीज़ ही शेष नहीं रह गयी है जिसे वह देख लेता। "द्रष्टा आत्मा की नित्य रहने वाली दृष्टि का लोप कभी नहीं होता क्योंकि वह तो उसकी अविनाशी नित्य दृष्टि है।" इत्यादि प्रमाणों से हमें यह निश्चय होता है कि वह सुषुप्तिवाला आत्मतत्व कोई शून्य पदार्थ नहीं हो जाता तो उस अवस्था में जो एक मात्र तत्व शेष रह जाता है पहले तो तुम उस तत्व को भले प्रकार समझलो और फिर यह निश्चय कर लो कि वही केवल शिव स्वरूप तत्व मैं हूं।

(आत्म तत्व के विषय में औपनिषद सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है)

न सांख्यं न शैवं न तत्पांचरात्रं
न जैनं न मीमांसाकेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्
तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥ ४ ॥

सांख्य वादी जैसा मुझे समझते हैं, शैव लोग जैसा मुझे बताते हैं, पंचरात्रमतानुयायियों को जैसा मैं दीखता हूं जैनियों ने जैसी मेरी कल्पना कर रक्खी है, मीमांसक दार्शनिकों ने जैसा मुझे मान रक्खा है, वैसा मैं कुछ भी नहीं हूं। किन्तु इन सब मतों में अनुगत जो एक शुद्ध आत्मा इन सबके विशिष्ट विशिष्ट अनुभवों से सिद्ध होता है सांख्य, शैव, पंचरात्र, जैन तथा मीमांसकादियों के चुप हो जाने पर जो शान्ततत्व शेष रह जाता है (जिसके विषय में कुछ भी बोलते नहीं बनता) वही केवल शिव स्वरूप तत्व मैं हूं।

यहां तक यह सिद्ध किया जा चुका कि सामान्य रीति से जो त्वं शब्द का अर्थ समझा जाता है वही उसका ठीक अर्थ नहीं है 'नेदं यदिदमुपासते'। अब तत्पद का जो अर्थ सामान्यतया समझा जाता है जिसको ईश्वरतत्व कहा जाता है उसी के यथार्थ स्वरूप का कथन किया जायगा। उसके विषय में–अचेतन-प्रधान ही जगत् का मूल कारण है ऐसा सांख्य मानते हैं। पशुपति ही इस जगत् का कारण है वह चेतन होने पर भी जीवों से भिन्न है, उसी की उपासना करनी चाहिये न ऐसा पाशुपत किंवा शैव लोगों का विचार है। भगवान् वासुदेव ही ईश्वर तथा जगत् के कारण हैं, उन्हीं से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति होती है, उस जीव से प्रद्युम्न नामक मन उत्पन्न हो जाता है उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार का जन्म होता है, इस प्रकार उत्पन्न होने वाला होने के कारण यह जीव वासुदेव नामक परब्रह्म से अत्यन्त भिन्न पदार्थ है ऐसा पंचरात्र मतानुयायी समझते हैं। परमात्मा परिणामिनित्य सर्वज्ञ तथा भिन्नाभिन्न पदार्थ है ऐसा त्रिदण्डी और जैनों का सिद्धान्त है। सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त ब्रह्म नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, सम्पूर्ण वेद ही क्रिया परक है, इस कारण ब्रह्म में उसका तात्पर्य ही नहीं है, किन्तु 'वाणी को गाय समझ कर उपासना करे' इत्यादि वाक्यों के समान जगत् के कारण परमाणुओं अथवा जीवों को ही सर्वज्ञ समझ कर उनकी उपासना करनी चाहिये, ऐसा मीमांसक लोग कहते हैं। पृथिवी आदि कार्यों को देख कर जिसका अनुमान किया जाता है ऐसा एक नित्य ज्ञानादि वाला सर्वज्ञ पदार्थ ही ईश्वर है वह तो जीवों से भिन्न ही है यह तार्किकों का सिद्धान्त बताया जाता है। क्षणिक वस्तु ही सर्वज्ञ परमात्मा है ऐसा बौद्धों ने मान लिया है। क्लेश कर्म

विपाक तथा आशयों से पृथक् रहने वाला नित्यज्ञानस्वरूप, तथा प्रधान के अंश सत्वगुण में प्रतिफलित होने के कारण सर्वज्ञ कहाने वाला, संसारी लोगों से विलक्षण ईश्वर है यह पातञ्जलों का मन्तव्य है। ब्रह्म तो अद्वितीय परमानन्द स्वरूपही है, वही जीवों का वास्तविक स्वरूप कहलाता है, माया के कारण उसमें सर्वज्ञता आदि गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है वही जगत् का उपादान तथा वही जगत् का निमित्त कारण है, ऐसा औपनिषद लोग वर्णन करते हैं। ऐसी अवस्था में स्वभाव से यह प्रश्न उठता है कि जिस तत्व के विषय में इतने भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं तो फिर किस की वात को सत्य माना जाय। इसका समाधान यह है कि *'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'* उसने विचार किया कि अनेक हो जाऊं प्रजा बन जाऊं इस श्रुति में विचार पूर्वक सृष्टि रचना का जो विधान है वह विचार सांख्यों के अचेतन प्रधान में सम्भव ही नहीं है। *'यस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'* 'जिस एक के जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है' यह एक के ज्ञान से सबका परिज्ञान हो जाने की बात प्रधान कारण वाद में (प्रधान को कारण मान लेने पर) असम्भव है। क्योंकि जो पुरुषतत्व प्रधान से उत्पन्न नहीं हुआ उसका परिज्ञान कैसे हो सकेगा? *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं सआत्मा तत्वमसि'* यह सब जगत् उसी आत्मा का रूपान्तर है वही सूक्ष्म तत्व आत्मा है, हे सुनने वाले तुम भी वही सूक्ष्म तत्व हो छान्दोग्य में नौ बार कहा गया यह उपदेश तथा *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'* उसी इस आत्मतत्व से आकाश उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतिपादन प्रधान कारण के

अत्यन्त विरोधी हैं। इस कारण सांख्य का मत ठीक नहीं है। शैव, पांचरात्र तथा जैनादि के मत भी श्रुति और युक्ति के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही हैं, यह सब जानना हो तो वेदान्तदर्शन के (२-२) में देखना चाहिये। मीमांसकों का भी यह कथन ठीक नहीं है कि 'श्रुतियों में ब्रह्म का प्रतिपादन ही नहीं है, यदि कहीं है भी तो वह विधियों का शेष ही है मुख्यतया ब्रह्म का प्रतिपादन करने का अभिप्राय श्रुति का नहीं है'। मीमांसकों की कही हुई यह विधियों की शेषता ही ब्रह्म पर सिद्ध होनी दुर्घट (कठिन) है। वेदान्त वाक्यों के श्रवण से अब तक अनन्त साधकों को जो परमानन्द की प्राप्ति हो चुकी है तथा अब भी उनके सम्पूर्ण दुःख दारिद्रय नष्ट हुए पाये जाते हैं ऐसे निराकांक्ष ब्रह्म को विधि का शेष बना देना अत्यन्त दुर्घट तथा असम्भव काम है। सम्पूर्ण विधि में अन्तःकरण को शुद्ध करके इसी मार्ग के लिये ब्रह्माधिकारियों को तयार करने की टकसाल बनी हुई हैं, इस से तो वे विधियां ही इस ब्रह्म की शेष हो गई हैं। इस प्रकार जब श्रुतियों का वेदान्त भाग एक महा-प्रयोजन युक्त तथा कभी भी बाधित न होने वाले किसी प्रमाण से भी परिज्ञात न हो सकने वाले तत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है तो उसको स्वतः प्रमाण मानने में मीमांसकों को आपत्ति ही क्यों करनी चाहिये। इस प्रकार मीमांसकों का मत युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। तार्किक आदि वादियों के मत का हम कहां तक निराकरण करें उसके विरोध में *तत्वमसि* (छा०६-८-७) *अहं ब्रह्मास्मि* (बृ०१-४-१०)*अयमात्मा ब्रह्म*(बृ०२-५-१९) *सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म* (तै०२-१) *एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म* (छा० ६-२-१) *नेहनानास्ति किंचन* (बृ० ४-४-१९) *मृत्योः समृत्युमाप्नोति*

यइहनानेवपश्यति (बृ० ४-४ १६) इत्यादि श्रुतियों को ही पढ़ डालना चाहिए । भेदाभेदवाद तथा क्षणभंगवाद भी (*आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः* आत्मा तो आकाश के समान व्यापक तथा नित्य पदार्थ है इत्यादि वाक्योंके रहते) औपनिषद लोगों को मान्य नहीं हो सकता । इस सब के अमान्य होने का प्रधान कारण यही है कि आत्मा तो विशुद्ध रूप है । निर्विकल्प अद्वितीय चैतन्य ही इसका वास्तविक स्वरूप माना जाता है, परन्तु यह विशुद्ध रूप विशिष्ट अनुभूति की आंखों से ही किसी को दीख पाता है । जब सविकल्प अनुभूतियें कूच कर जाती हैं, जब कोई अध्यात्मदर्शी किसी पर कृपालु होकर यह दिव्य संदेश सुनाते हैं. कि हे शिष्य 'वह तत्व' तुम ही हो, जब किसी साधक को किसी सद्गुरु के कहने से वैसा अखण्ड अनुभव होता है. जब किसी साधक को वैसे सर्वव्यापक अद्वितीय परमानन्द बोध का उदय हो जाता है जब साधक के हृदय में देव दुर्लभ शान्ति का सन्नाटा छा जाता हैं, जब पूर्ण रीति से यह कहा जा सकता हैं कि अब केवल तत्व शेष रह गया है वही केवल शिवस्वरूप तत्व मैं हूं । नेदं यदिदमुपासते, साधारणतया लोक में जिसको अपने से भिन्न ब्रह्म तत्व समझ कर उपासना की जा रही है इसलिए तत्व से भिन्न वह कोई भी ब्रह्म नाम का तत्व यहां नहीं है ।

(*व्यापक ब्रह्म में ऊपर नीचे आदि का व्यवहार. करना घोर अपराध है*)

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वाऽपरा दिक् ।

वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप—
स्तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥१॥

ऊपर नीचे अन्दर बाहर बीच में तिरछा पूर्व और पश्चिम कुछ भी ठीक नहीं है इन सब के बाद भी शेष रहा हुआ आकाश की तरह व्यापक अखण्ड एक रूप केवल शिव तत्व मैं हूं।

अब मैं इस शरीर को ही एक माप दण्ड मान कर इसी ढांचे पैमाने से इस समस्त ब्रह्माण्ड को नापने किंवा नामकरण करने का दुःसाहस करता हूं तो इस शरीर के ऊपर की दिशा को ऊर्ध्व दिशा, नीचे की दिशा को अधो दिशा, शरीर के अन्दर के स्थान को आन्तर देश, शरीर के बाहर के स्थान को बाह्य देश, शरीर के रहने के स्थान को मध्य देश, शरीर से टेढे देश को तिर्यक् देश, शरीर से सूर्य की ओर की दिशा को पूर्वदिशा शरीर से सूर्य छिपने की दिशा को अपर दिशा कहता हूं, परन्तु जहां मेरा यह शरीर उस जगह से हट कर इधर उधर वा ऊपर नीचे हो जाता है तो ये पूर्व आदि सभी दिशायें उथल पुथल हो जाती हैं (जो अभी पूर्व दिशा थी वही पश्चिम दिशा बन जाती है, जिसे अभी ऊर्ध्व दिशा समझ रहा था वही अधो दिशा हो जाती है इत्यादि) यों मेरे पहले नामकरण में गड़-बड़ी आ जाती है, तो मैं बड़े असमंजस में फंस जाता हूं और सोचता हूं कि इस गड़बड़ किंवा इस अव्यवस्था का कारण क्या हुआ ? तो तुरन्त ही मुझे पता चलता है कि ये पूर्व आदि दिशायें ही कोई नियत सत्य वस्तु नहीं हैं। केवल इस शरीर के व्यवहार के लिये प्राणियों ने इनकी कल्पना कर डाली है। प्रारब्ध कर्मों के शासन से जब किसी का यह शरीर रूपी तूंबा

ही फूट जाता है तब तो फिर उसकी दृष्टि में अन्दर बाहर ऊपर नीचे टेढ़ा तिरछा पूरब पश्चिम कुछ भी नहीं रहता। क्योंकि उस समय तो ब्रह्माण्ड को मापने का उसका यह झूठा माप दण्ड (पैमाना) ही उसके हाथ से गिर पड़ता है और केवल आत्मा ही शेष रह जाता है। उस समय(*आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः* आकाशके समान व्यापक अथवा *ज्यायानाकाशात् महतो महीयान्*) आकाश से भी व्यापक, महान् से भी महान् अखण्ड एक रूप तत्व शेष रह जाता है जिस का कोई भी नाम रखा नहीं जा सकता। यदि तुम्हारी दृष्टि उसी सूक्ष्म तत्व तक पहुँच सकती हो तो मैं तुम से कहता हूं कि वही शिव तत्व मै हूं। अथवा तुम यह कल्पना करो कि किसी ने तुम्हारे इस शरीर को किसी युक्ति से इस ब्रह्माण्डमें से बाहर निकाल कर फेंक दिया हो तो बताओ कि उस अवस्था में तुम्हारी दृष्टि में ऊपर नीचे अन्दर बाहर मध्य आड़ा टेढ़ा पूर्व तथा पश्चिम ही क्या हुआ। हम तो समझते हैं कि ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड रूपी दो बड़े छोटे बर्तनों की रगड़ से ये निरर्थक ध्वनियां निकल पड़ती हैं। इनका वास्तविक अर्थ कोई भी नहीं होता। ये सब बातें शरीर के कारण ही उत्पन्न हो जाती हैं। जब यह शरीर स्वयं ही छूट जाता है अथवा जब हम इसको दागी पैमाना समझ कर स्वयं ही इससे ब्रह्माण्ड को नापना छोड़ देते हैं तो फिर नीचे ऊपर आदि कहना ही नहीं बनता। किसी दर्पण की लम्बाई गोलाई चौड़ाई आदि के कारण जैसे हाथी यथार्थ ही लम्बा गोल और चौड़ा नहीं हो जाता अथवा प्रतिबिम्ब वाले जल की चंचलता से जैसे चन्द्रमा यथार्थ ही चंचल नहीं बन जाता इसी प्रकार हमारे इन झूठे नामकरणों

से क्या यथार्थ ही पूर्व आदि दिशायें बन सकती हैं। इस विशेष विवेचन से यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है कि यहां पूर्व पश्चिम आदि कोई भी नित्य सत्य वस्तु नहीं है। किन्तु इस शरीर के कारण ही यह नामरूपात्मक जगदाभास प्रतीत होने लग पड़ा है। यह तो इन्द्रियोपाधिक भ्रम है जब तक ये इन्द्रियें हैं तब तक यह जगद्‌भास दीखता ही रहेगा परन्तु इससे तत्वदृष्टि में कोई बाधा नहीं पड़ती। जल में प्रतिबिम्ब पड़े हुए वृक्ष की शाखायें नीचे को तथा जड़ें ऊपर दीखा करती हैं परन्तु देखने वाले को जब इस भ्रमका निश्चय हो जाता है तो फिर वह व्यवहार करता हुआ भी भ्रममें कभी नहीं पड़ता। वह निश्चय कर लेता है कि यह तो जल रूपी उपाधि के कारण उत्पन्न हुआ भ्रम है। जब तक जलरूपी उपाधि बनी हुई है तब तक ऐसा विपरीत दर्शन होता ही रहेगा। इसी प्रकार विवेकी पुरुष प्रत्यक्ष देखता हुआ भी इन पूर्व पश्चिम आदि को सत्य कभी नहीं मानता। तुम भी जब तत्व दृष्टि से विचार करोगे और ब्रह्माण्ड को इस दोषी पैमाने से नापना छोड़ोगे तो किसी को ऊपर नीचे अन्दर बाहर पूरब पश्चिम आदि कहते हुए तुम्हें कल्पान्तकाल के सा असहन होने लगेगा। उस समय जब तुम अलौकिक विवशता के कारण मौन भाव में प्रवेश करोगे, जब कुछ भी कहने को तुम्हारा जी न चाहेगा, तब तुम को शेष रहा हुआ जो तत्व दृष्टिगोचर होगा, शान्ति का जो व्यापक अखण्ड साम्राज्य तुम्हें दीख पड़ेगा सुखकी जो मूसलाधार वृष्टि तुम्हें दिखाई पड़ने लगेगी वही कल्याणस्वरूप शिव तत्व तो मैं हूं।

(आत्म तत्व में शुक्ल कृष्ण आदि गुण तथा इनसे होने वाले सुख दुःख कुछ नहीं होते)

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारनत्वात
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥६॥

मैं शुक्ल कृष्ण रक्त पीत कुब्ज पीन ह्रस्व तथा दीर्घ कुछ भी नहीं हूं। मैं तो एक अरूपं=रूपविहीन तत्व हूं। इन सब को प्रकाशित करने वाली ज्योति ही मेरा यथार्थ दर्शन स्वरूप है। इन सब भेदों के मिटजाने पर जो एक मौन मन्दिर शेष रहा दीखने लगता है वही शिव स्वरूप तत्व तो मैं हूं।

जो पामर लोग दो कौड़ी जितने स्थान में समाजाने वाली इन चर्म चक्षुओं से ही मुझ व्यापक अनन्त तत्व के स्वरूप का निश्चय करने का उपहास पूर्ण उपक्रम करते हैं, वे तो मुझे इस मायिक शरीर के रंग तथा इस अस्थि पञ्जर की बनावट के अनुसार ही भूरा काला गोरा पीला मोटा छोटा तथा लम्बा बता देते हैं। मालूम होता है कि उन्हें मेरे अनन्त आयुष्य का ध्यान ही नहीं रहता। वे केवल मेरे इस वर्तमान देह के द्वारा ही मेरे यथार्थ स्वरूप का भ्रमपूर्ण विचार किया करते हैं। मेरे भविष्य तथा भूत अनन्त जन्मों का विचार भी यदि वे कर लेते तो वे कदापि मुझे ऐसा कहने का साहस ही न करते। क्योंकि आत्म तत्व इन शरीरों के समान भूरा काला मोटा छोटा आदि कुछ भी नहीं होता। वे तो अपनी अदूरदृष्टि के कारण

मुझे इस मांस के झोंपड़े में बांध कर डाल देते हैं । घट में कैद हुआ घटाकाश जैसे घट के रंगरूप अथवा आकार का नहीं हो जाता इसी प्रकार इस मांस पिण्ड में अहं भाव से बन्दी बना हुआ मैं भी इस के शुक्ल नील तथा कुब्जादि धर्मों वाला नहीं बन जाता हूं। आकाश जैसे बालकों के समझने से नीला नहीं होजाता उसी प्रकार इन अदूरदर्शी लोगों के समझने से मैं काला पीला गोरा कुबड़ा ठिगना अथवा लम्बा कुछ भी नहीं होता हूं। तुम अपनी विहङ्गम दृष्टि से अपने सम्पूर्ण भूत भविष्यत् काल के श्वेत काले लाल पीले कुबड़े मोटे छोटे तथा लांबे शरीरों पर विचार करो कि तुम कितने अनन्त शरीरों में होकर निकल चुके हो तथा जब तक तुम्हें ज्ञान न होले तब तक कितने अनन्त जन्मों में होकर अभी यात्रा करनी होगी। जब एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करने लगते हो तो बीच में कुछ काल के लिये तुम स्पष्ट ही अशरीर भाव को प्राप्त हो जाते हो। इसी दृष्टान्त से तुम यह भी कल्पना कर लो कि तुम सदा के लिये ही अशरीर हो गये हो तुम्हें मुक्ति की प्राप्ति हो गयी है । अब तुम्हारे पास उन रंगबिरंगे नाना प्रकार के अनन्त देहों में से एक भी देह शेष नहीं रह गया है तो ऐसी उदात्त कल्पना के बाद जो

(*अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्*)

सकल रूपविहीन तत्त्व तुम्हें शेष रहा दीखता है, पांच कोशों के पृथक्करण की रीति से इन सब देहों के आत्मतत्त्व से पृथक हो जाने पर जो तत्त्वज्ञानी लोगों को हाथ लगा करता है, इन सब मांसकुटीरों में इन सब कुटीरों को प्रकाशित करने वाली जो एक अखंड जीवन ज्योति जलती हुई पाई जाती है सब की बाधा हो जाने पर शेष रहा हुआ वही शिव तत्त्व मैं हूं।

(शिष्य गुरु आदि का भेद स्वरूप ज्ञान होने तक तो ठीक है बाद में यह कुछ नहीं रहता)

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः ।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णु—
स्तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥७॥

तत्त्वदृष्टि से देखो तो गुरु और शिष्य शास्त्र और शिक्षा तू श्रोता मैं वक्ता तथा यह अनर्थकारी दृश्य जगत् कुछ भी नहीं है। (यह तो केवल लोगों की ऐन्द्रियक प्रतीति से मान लिया गया है) विचार की तीक्ष्णधार अथवा आत्मस्वरूप का परिज्ञान इन किन्हीं भी भेदों को सहन नहीं करता। (वह तो सकलद्वैत का उपमर्दन किये बिना दम ही नहीं लेता) *'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि तस्मात्तत्सर्वमभवत्'* ज्ञान से ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जावे और सकल द्वैत का लाभ हो जाने पर जो कोई एक मात्र तत्त्व शेष रह जाता है वही केवल शिव स्वरूप तत्त्व तो मैं हूं।

दृढ़ता के साथ समाधिभावना में बैठ कर जब किसी योगी को आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध होता है, जब कोई साधक व्यष्टि और समष्टि अहंकार के पंजे से छुट कर मानो दुबारा अपनी व्यापकता का महालाभ किया करता है, जब कोई मुमुक्षु बढ़ता बढ़ता निर्विकल्प समाधिनिकेतन की देहली में प्रवेश करता है, जब कोई मुनि धर्म मेघसमाधिकी मूसलाधार वृष्टि से भरे हुए अमृतमय ह्रद में डुबकी लगाता है तो

फिर उस की शान्त बुद्धि किसी प्रकार के भी विकल्प को सहन नहीं करती। विकल्पों के डरावने जंगलों में प्रवेश करते हुए उसकी बुद्धि को भय और कम्प होने लगते हैं। गुरु और शिष्य शास्त्र तथा शिक्षा आदि का भेद फिर उसे कभी भी सहन नहीं होता। 'तू' 'मैं' 'यह' की भ्रान्त कल्पना फिर उस की बुद्धि पर कभी नहीं चढ़ती। तपे हुए लोहे में जिस प्रकार अग्नि हिलमिलकर रहने लगती है इसी प्रकार जब तक हम इस मांसनिकेतन के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए रहते हैं तभी तक इसके सामने बैठकर आत्ममार्ग दिखाने वाले दूसरे मांसपिण्ड को हम 'गुरु' कहते हैं, जिस दिव्य संग्रह (पुस्तक) के आधार से वह हमें शिक्षित करता है उसे 'शास्त्र' समझते हैं गुरुशिष्य के एकान्त में जिस महावार्ता का दर्शन गुरुलोग कराते हैं उसे 'शिक्षा' मानते हैं, इस मांस पिण्ड के पास आकर जो दूसरा मांसपिण्ड बात चीत करता है उसे हम तू' कहते हैं अपने मांसपिण्डको मैं' मानते हैं इस सब व्यवहार के साधन को हम 'दृश्य जगत्' समझते हैं। परन्तु ज्यों ही इस मांसमय देह से हमारा अध्यास का नाता टूटता है त्योंही ये सब उपर्युक्त नाम-करण मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। क्योंकि इन नाम करणों का साधन यह शरीर नामक मापदण्ड ही ज्ञान की महिमा से निकम्मा होकर हमारे अहंकार रूप हाथ में से गिर जाता है। इस शरीर रूपी भ्रामक माप दण्ड के कारण ही तो इन सब भेदों की कुसृष्टि हो जाती है। समाधिभावना से जब किसी को अपने व्यापक तथा अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार होता है तो फिर उसकी दृष्टि में किसी भी भेद का चिन्ह शेष नहीं रह जाता। जिस प्रकार एक शरीर के आंख नाक हाथ पैर तथा बुद्धि आदि अंगों में परस्पर यह कल्पना नहीं होती कि इसमें

बुद्धि 'गुरु' है मन 'शिष्य' है एक हाथ 'तू' है दूसरा दायां हाथ 'मैं' हूं इत्यादि, इसी प्रकार हिरण्यगर्भ के एक व्यष्टि शरीर को दूसरे व्यष्टि को 'गुरुशिष्य' मानने अथवा 'तू मैं' करने का कोई भी उचित आधार नहीं होता। स्वप्न के बड़बड़ाने से ही जैसे किसी पदार्थ की सत्यता प्रमाणित नहीं हो जाती इसी प्रकार केवल अज्ञानी लोगों के मिथ्यानुभव के आधार से ही 'तू मैं यह तथा गुरुशिष्य' के भेद को यथार्थ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अनादि काल से आत्मतत्व को ढकने वाले आत्मा-रूपी कमल-पुष्प के आत्मरस को चूसने वाले उसी पर सदा बैठने वाले विकल्प रूपी समस्त भौंरे, जब ज्ञान रूपी वायु के एक ही झोंके से उड़ जाते हैं तब आत्मकमल का जो गम्भीर अनन्त तथा निर्विकल्प लावण्य शेष रह जाता है। तब जिस अखण्ड विकसित आत्मकमल की दिव्य सूचना केवल ध्यानी लोगों को मिला करती है, पूर्वसागरगामिनी भागीरथी गंगा जैसे जमना आदि सम्पूर्ण महानदियों को लेकर सागर में जा पड़ती और पहिले सब नाम रूपों को खो देती है इसी प्रकार ब्रह्मसागरगामिनी ज्ञानगङ्गा भी इस शिष्य शास्त्र शिक्षा तथा तू 'मैं' यह के सब भेदों को लेकर जब आत्म सागर में सदा के लिये गोता लगा लेती है तब जो अखण्ड रीति से विकसित हुआ नाम रूप हीन आत्म कमल शेष रह जाता है जिसको केवल अग्रधा बुद्धि से ही देख सकते हैं सम्पूर्ण को बाधा कर देने के बाद शेष रहे हुए आत्मतत्व की सम्भावना यदि तुम्हारे मन में भी हो गयी हो तो मैं तुम्हें बताऊंगा कि वही परमकल्याणस्वरूप केवल आत्मतत्व मैं हूं।

(जागरण आदि तीनों अवस्थायें आत्मारूपी नट की क्रीड़ा है जो जगत् रूपी नाटक को खेल रहा है)

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्ति-
र्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञ को वा ।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीय-
स्तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥ ८ ॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थायें तथा (इन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी) विश्व तैजस तथा प्राज्ञ (अथवा विराट् हिरण्यगर्भ और अन्तर्यामी) ये तीनों ही अविद्यात्मक (तथा दृश्य) होने के कारण मिथ्या हैं इन तीनों के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर जो अनुपहित (सच्चा) चतुर्थ तत्व शेष रह जाता है (जो इन तीनों मिथ्या पदार्थोंको, माला के पुष्पों को सूत्र की तरह सिम्भाल रहा है) वही शेष रहा हुआ केवल साक्षी शिवस्वरूप तत्व मैं हूं।

जबसे मुझे आत्मस्वरूप का परिज्ञान हुआ है तबसे आश्चर्य से फैले हुए नेत्रों से देखता हूं और बेबस होकर मेरे मुंह से निकल ही पड़ता है कि अब तक मैं वृथा ही इस गीले मुर्दे के साथ लगा फिरता था, अपने अज्ञान के कारण इसके धर्मों को अपने ऊपर लादने में ही अपना परम सौभाग्य समझता था। अहा ! आज मेरी उस अज्ञान निद्रा का भंग हुआ है तो क्या प्रतीत हो रहा है कि बाह्य इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करने वाली जागरणावस्था मुझे कभी नहीं होती यह तो बुद्धि का ही एक धर्म है। जब बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है तब

जागरणावस्था आती है सो मैं एक अखण्ड आत्मतत्व तो अपने से अन्य कुछ देखता ही नहीं हूँ फिर मुझे जाग्रत् कैसे हो ? जब मन सूक्ष्मनाडियों में पहुँच कर जागरण के संस्कारों की सहायता से मानसविषयों की कल्पना करलेता है तो वह स्वप्नावस्था कहाती है यह भी बुद्धि का ही एक धर्म है मुझ शुद्ध आत्मतत्त्व को कभी स्वप्न नहीं होता। भला बताओ कि मैं एक अखण्ड आत्मा अपने से भिन्न किसी को कैसे देखूं ! देखूं भी तो मेरी अखण्डता कैसे सुरक्षित रहे ! जब सम्पूर्ण विषय ज्ञान का अभाव हो जाता है, जब अज्ञान में ही बुद्धि का विलय हो जाता है, तो इसी को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। ज्ञान की महिमासे जिस मुझ में यह अज्ञान तथा अज्ञान का कार्य समस्त जगत् ही विलीन हो जाता है तो उस मुझको सुषुप्ति अवस्था कैसे हो ! जाग्रत् अवस्था तथा स्थूल शरीर पर अभिमान रखने वाला 'विश्व' कहाता है, स्वप्नावस्था तथा सूक्ष्म शरीर पर अभिमान करने वाले को 'तैजस' कहते हैं सुषुप्ति अवस्था तथा कारण शरीर के अभिमानी को 'प्राज्ञ' कहा जाता है। जब कि मैं इन अवस्थाओं के प्रभाव में कभी नहीं आता। जब मैं इन शरीरों में अभिमान करके कभी नहीं बैठता तो फिर मैं इन अवस्थओं को अपना कैसे मान लूं और मैं इन शरीरों का अभिमानी 'विश्व' 'तैजस' तथा 'प्राज्ञ' भी कैसे हो जाऊँ ? इससे कहा जाता है कि मुझे जाग्रत् स्वप्न या सुषुप्ति कभी नहीं होती मैं विश्व तैजस तथा प्राज्ञ कुछ भी नहीं हूं। ये तीनों अवस्थायें तथा इनके अहंकारी सभी अविद्या कल्पित हैं। ये तीनों ही अवस्थायें केवल अज्ञान के कारण जीवात्मा के साथ बंध गई हैं। क्योंकि जाग्रत अवस्था का विशेष संबन्ध

स्थूल देह के साथ ही है, स्वप्नावस्था सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध पाई जाती है। जैसे कोई बहुरूपिया ऊपर नीचे तीन कपड़े पहन रहा हो इसी प्रकार मेरे ऊपर अविद्या के कारण तीन शरीर रूपी तीन आच्छादन आ गये हैं। दूध जैसे गाढ़ा होते होते मलाई बन जाता है इसी प्रकार मेरी अविद्या अनादिकाल से लेकर उत्तरोत्तर स्थूल होते होते कारण सूक्ष्म तथा स्थूल देह के रूप में प्रतीत होने लगी है। मानो अविद्या ही तीन शरीरों का रूप धारण करके आ विराजी है। इस प्रकार तत्व विचार करने पर जब ये तीनों ही अवस्थायें मेरी नहीं और अवस्थाओं का अभिमानी भी मैं नहीं हूं तो फिर ही मैं एक 'चौथा' तत्व कहा जाता हूँ। विज्ञान की गम्भीर दृष्टि में मुझे चौथा तत्व कहना भी युक्ति संगत नहीं होता। कहने की बात तो केवल इतनी ही है कि इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके तीनों अभिमानियों की बाधा हो जाने के पश्चात् जो भी कोई अवस्था हीन तत्व शेष रह जाता है—अथवा इसी बात को दूसरी तरह से यों समझो कि अज्ञानी जीव जाग्रत काल में स्थूल देह का सहारा पकड़े रहते हैं, स्वप्न में लिङ्ग देह को आश्रय बनाये रहते हैं सुषुप्ति आने पर अज्ञान के आंचल में लिट जाते हैं। परन्तु ज्ञान की अवर्णनीय महिमा से इन तीनों अवस्थाओं के नष्ट हो जाने पर बिना इन तीनों अवस्थाओं के मध्य काल में भी जो दिव्य असहायावस्था जो अलौकिक निरालम्बनता का भाव अथवा जो स्पृहणीय अखण्डता उदित हो जाती है जब हम निराधार हो कर विराज रहे होते हैं जिसे तुरीय धाम भी कह सकते हैं-यदि तुम्हारी कल्पना शक्ति वहां तक पहुँच सकती हो, यदि तुम्हारी शुद्ध बुद्धि की गति वहां

तक हो चुकी हो, तो मुझ ज्ञानोन्मत्त की भी एक छोटी सी महावार्ता सुन लो कि उस अवस्था में शेष रहा हुआ—वही शिवस्वरूप तत्त्व तो मैं हूं।

(इन तीनों अवस्थाओं में अनुगत रहने वाला आत्मतत्त्व ही सत्य है ये सब अवस्थायें मिथ्या हैं)

अपि व्यापकत्वाद्धितत्वप्रयोगात्
स्वतस्सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत्
तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥९॥

व्यापक होने हितत्व किंवा परमपुरुषार्थता का योग होने, उसके स्वयं प्रकाशज्ञानरूप होने तथा स्वाधीन (स्वावलम्बी-दूसरे किसी के भी आश्रित न) होने के कारण आत्म तत्व ही एक वस्तु इस संसार में है। उससे भिन्न यह सब जगत तो (परिच्छिन्न एक देशी अपुरुषार्थ अज्ञानरूप सदा पराश्रित तथा असुखात्मक होने के कारण) एक अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है। (ऐसा दोषी यह सब जगत जब किसी ज्ञानी की दृष्टि पर ही नहीं चढ़ता और वह ज्ञानी केवल आत्म तत्व ही हो रहता है उस समय) सर्व बाध हो जाने के पश्चात् शेष रहा हुआ वही केवल शिवतत्व मैं हूं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'यह सब कुछ आत्मा ही है' के कहे प्रकार से आत्मा से भिन्न यह सम्पूर्ण दृश्य जगत एक अत्यन्त तुच्छ (नाचीज़) पदार्थ है। उसका कारण यह है कि यह

जगत व्यापक नहीं है। जितनी भी एक देशी वस्तुयें हैं वे सब काल पाकर नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगी। किसी अव्यापक पदार्थ को त्रिकाल जीवी नहीं पाया जाता। आकाशादि भी यद्यपि देश कालादि से परिच्छिन्न नहीं हैं परन्तु उनकी आपेक्षिक महत्ता को देख कर उनमें व्यापकता का उपचार कर लिया गया है। क्योंकि ये केवल इस जगत के अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा ही से महान् हैं तत्त्वदृष्टि से ये महान् नहीं हैं। जो पदार्थ तीनों कालों में सदा एक समान न रहता हो उसी को तुच्छ किंवा मिथ्या पदार्थ माना जाता है। व्यापक न होना ही इस दृश्य जगत का पहला दोष है जिस कारण इस को तुच्छ माना जाता और विवेकियों को इसे छोड़ देने की अनुमति दी जाती है। व्यापक तत्व जितने सुभीते से सबको सर्वत्र मिल जाता है यह दृश्य जगत् उतने सुभीते से नहीं मिलता। फिर ऐसे परिश्रम साध्य तत्व को लेकर विवेकी लोग क्या करें। जब इस समस्त दृश्य जगत में मिलने वाले सम्पूर्ण आनन्द किसी को अपने आत्मा में ही प्राप्त हो सकते हैं तो फिर विवेकियों को इस जगत के उपार्जन की सम्मति क्यों दे दें। अर्क वृक्ष में ही यदि किसी को मधु मिल रहा है तो फिर उसे मधु लेने के लिये दूर पर्वत पर क्यों भेजा जाय ?

तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात् अन्तरं यदयमात्मा ( ) *यो वै भूमा तत्सुखम्* (छा० ७-२३-१) *स एष परम आनन्दः* (बृ० ४-३-३३) *विज्ञानमानन्दं ब्रह्म* (बृ० ३-९-२८) अर्थात् यह आत्मतत्त्व जो कि सब से अन्दर है पुत्र से भी प्यारा है धन धान्य से भी प्यारा है और भी सब प्यारी से प्यारी वस्तुओं से प्यारा है। जो सब से महान् तत्त्व

है वही सुख है जहां अल्पता परिच्छेद किंवा एक देशी का भाव है वह सब दुःख है। यह आत्मतत्त्व ही परम आनन्द है। विज्ञान तथा आनन्द ही ब्रह्म है। इत्यादि श्रुतियों में आत्मा को ही परम हित (परम पुरुषार्थ किंवा आनन्द स्वरूप) बताया गया है। यद्यपि यह आत्मानन्द नित्य ही है परन्तु प्राणी के धर्म के प्रभाव से जब उस के अन्तःकरण की वृत्ति सात्विक हो जाती है तब यह व्यक्त हो जाता है। इसी से आनन्द की उत्पत्ति और विनाश का भ्रामक विचार लोगों को हो रहा है। यही आत्मतत्व जब तक अज्ञान से व्यवहित हुआ रहता है तो ज्ञान से अविद्या के हट जाने पर अप्राप्त सा बना हुआ यह तत्व दुबारा प्राप्त सा हुआ करता है। ऐसी ही अप्राप्त प्राप्ति के लिये मुमुक्षु लोगों की प्रवृत्ति सम्भव हो गयी है। अन्यथा तो यह सब बखेड़ा व्यर्थ ही है।

जिन लोगों का विचार यह है कि दुःखाभाव ही मोक्ष है उनके मतानुसार इसे यों समझना चाहिये कि इस कल्पित दुःख रूप जगत का अधिष्ठान भी यही आत्मतत्व परमपुरुषार्थ कहा जा सकता है अन्य कोई नहीं।

इसके अतिरिक्त यह जगत तो प्रत्यक्ष ही परतः सिद्ध पदार्थ है यदि यह आत्मा के समान ही स्वतः सिद्ध पदार्थ होता तो भी हम इसे तुच्छ पदार्थ न मानते, इस दृश्य जगत को जब हम देखते हैं तभी इसकी सिद्धि होती है। यदि इस दृश्य जगत को कोई न देखे तो इस की सिद्धि कैसे हो? जीवात्मा कहाने वाले हम लोग यदि किसी ऐसी गुफा में जा बैठें कि जहां हमें अन्य कोई भी देख न सकता हो तो भी वहां हम स्वतः सिद्ध बने रहते हैं। वहां

हमारी सत्ता के ज्ञान के लिये किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। उस समय किसी प्रकार की भी बाह्य सहायता के बिना वहां की मौन मुद्रा को भंग कर डालने वाला 'हूं' ऐसा एक शब्द हमारे मुँह से निकल ही पड़ता है। जो हमारी स्वतः सिद्धता को बड़ी दृढ़ता से सिद्ध कर देता है। परन्तु इस दृश्य जगत के सिद्ध होने के लिये क्रमशः (१) लौकिक सूर्यादि ज्योतियाँ (२) चक्षु आदि इन्द्रियाँ (३) मन आदि अन्तःकरणों (४) तथा सबके पश्चात् ज्ञाता आत्मा की परमावश्यकता होती है। यों यह दृश्य जगत स्पष्ट ही दूसरों के आश्रय से सिद्ध हुआ करता है। यदि किसी युक्ति से इस दृश्य जगत को ये चारों प्रकाश न मिलें तो बताओ कि इसकी सिद्धि कैसे हो? इसे कोई कैसे जाने? संसार दशा में इस आत्मा का स्वरूप अविद्या से आवृत हुआ रहता है इस कारण यद्यपि परमानन्द रूप में किंवा स्वयं प्रकाश ज्ञानरूप में इसका भी भान संसारासक्त लोगों को नहीं होता, परन्तु तत्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर यह आत्मतत्व स्वयं प्रकाश तथा परमानन्द रूप में प्रकाशित होने लगता है। इसके इस प्रकार प्रकाशित होनेमें किसी व्यंजककी अपेक्षा ही नहीं होती।

अब स्वभाव से शंका होती है कि सुख को स्वयं प्रकाश ज्ञानरूप मान लेने पर भी उसी को आत्मरूप मानना संकट रहित मार्ग नहीं है। क्योंकि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है। उसका कोई आश्रय होना चाहिये जभी तो सब ऐसा कहते हैं कि 'मैं जानता हूं'। ऐसी प्रतीति कभी किसी को नहीं होती कि 'मैं ज्ञान हूं'। तो इस शंका का समाधान यों करो कि:—

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म (बृ० ३-४-१) *अयमात्मा सर्वान्तरः* (
) *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*(तै० २-१) *विज्ञानमानन्दं ब्रह्म* (बृ०

३-६-२८) जो अत्यन्त स्पष्ट रीति से सब को प्रत्यक्ष होरहा है उस ब्रह्म का निरूपण करो । यह आत्मतत्त्व ही सब से आन्तरतत्व है (जब सब नहीं रहेंगे तब भी यह शेष रह जायगा) सत्यज्ञान और यही ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप हैं । विज्ञान तथा आनन्द के अतिरिक्त और किसी भी अजनबी वस्तु का नाम ब्रह्म नहीं है विज्ञान तथा आनन्द ही ब्रह्म है। इत्यादि प्रमाणों से स्वयं प्रकाश ज्ञान तथा स्वयं प्रकाश आनन्द ही आत्मा है। यह आत्मतत्त्व कोई आकाश पुष्प नहीं है जो किसी को मिल ही नहीं सकता हो। यह तो सबका अपना आत्मा ही है। भ्रम केवल इतना होता है कि अन्तःकरण आदि उपाधियों के साथ तादात्म्याध्यास होजाने पर जब इनकी वृत्तियां में ज्ञानाध्यास होजाता है तो स्वयं ज्ञानरूप होकर भी 'मैं' जानता हूं' इस प्रकार ज्ञान का आश्रय प्रतीत होने लगता है । ये अन्तःकरण की वृत्तियां ही उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं । सब का अधिष्ठान जो आत्मरूप मुख्य ज्ञान है वह किसी के आश्रित नहीं रहता। वह तो एक स्वावलम्बी अनन्याश्रय स्वतः सिद्ध पदार्थ है ।

इस जगत् के तुच्छ होने का यह भी एक बड़ा कारण है कि यह सदा ही आत्मा के आश्रित रहता है पराश्रित भृत्य आदि का जीवन जैसे दुःखी जीवन माना जाता है इसी प्रकार सदा ही आत्मा के आश्रित रहने वाले इस जगत् का जीवन भी संकटपूर्ण रहता है। रात को पकड़े हुये चोर को जैसे घर का प्रत्येक जागने वाला मारता हुआ ही उठता है इसी प्रकार अज्ञान निद्रा से जगा हुआ प्रत्येक ज्ञानी इसका विध्वंस करता हुआ ही जगा करता है। फिर इसको सत्य पदार्थ कैसे माना जाय ? इस दृश्य जगत् में सत्य पदार्थ तो केवल आत्मा ही है। कटक-

कुण्डल आदि सोने के नाना आभूषणों में जैसे सोना ही एक सत्य पदार्थ होता है, उन सब आभूषणों के नष्ट हो जाने पर भी जैसे सोना ही शेष रह जाता है, इसी प्रकार इस नानाविध दृश्य जगत् के मूल में अन्वय रूप से रहने वाला यह आत्मा ही एक सत्यपदार्थ है तथा जब यह समस्त जगत् स्वयमेव अथवा ज्ञान की महिमा से विलोन हो जाता है तब यह आत्मा ही तो शेष रह जाता है। सम्पूर्ण विनाशों का 'अन्वय' यह आत्मा ही तो है। व्यापक तथा परम प्रेम का स्थान होने के कारण यही एक सत्य पदार्थ इस संसार में पाया जाता है। यह एक स्वतः सिद्ध पदार्थ है। जब सूर्य प्रकाश भी छिप जाता है, जब चन्द्रमा भी अस्त हो जाता है, जब इन्द्रिय व्यापार भी बन्द हो जाते हैं जब मनो-व्यापार भी नहीं रहते, जब हम गाढ़ सुषुप्ति अवस्था में पड़े होते हैं, तब भी इसकी स्वतः सिद्धता को चोट नहीं लगती। तभी तो लोगों को अपनी गाढ़ निद्रा का स्मरण होता है। यदि उस समय यह स्वतः सिद्ध न होता तो उठकर अपने सोने का स्मरण भी कैसे आता। यह किसी अन्य के सहारे से जीवित रहने वाला पदार्थ ही नहीं है। यह तो केवल अपने आश्रय से ही रहता है। यह अव्यापक असुख अहित परतःसिद्ध तथा पराश्रित जगत् जब ज्ञान की आग से विलीन हो जाता है तब जो कोई व्यापक परमहित स्वतः सिद्ध तथा स्वाश्रयी अखण्ड तत्व सिद्ध होता है (जिस का यथार्थ निरूपण करने की सामर्थ्य शब्द जैसे अतितुच्छ साधनों में नहीं है जिसके स्वरूप का ध्यान आते ही वाग्व्यापार के साथ मनो व्यापार भी बन्द हो जाते हैं) अपनी ज्ञानमहिमा से इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् की बाधा कर देने के बाद भी जो कोई अकथनीय तत्व शेष रह जाता है, यदि उस तत्व तक

यात्रा करने में तुम्हारी बुद्धि बीच में ही थक कर कुण्ठित हो जाती हो तो मैं तुम से कहूंगा कि वही परम कल्याण स्वरूप शिवतत्व तो मैं हूँ।

(ब्रह्म से भिन्न सभी कुछ मिथ्या है)

न चैकं तदन्यद् द्वितीय कुतःस्या-
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्व वेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥१०॥

उस आत्मतत्व को तो 'एक' कहना भी अत्यन्त अनुचित है क्योंकि वह अद्वैत अर्थात् द्वैधी भाव से रहित पदार्थ है (यदि कोई उन से भिन्न दूसरा पदार्थ हो तो उसको हटाने के लिये उन्हें एक कहना सार्थक माना जाय) एक न होने से ही दूसरे का भी पता वहां नहीं मिलता (क्योंकि यह दो संख्या तो अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने वाली संख्या हैं। जब कि उन से भिन्न कोई दूसरा तत्व ही नहीं है तो फिर एक कह कर भी उनकी मौन मुद्रा को भंग क्यों कर दिया जाय) शुद्ध अद्वैत रूप किंवा द्विधाभाव से हीन होने के कारण ही उनको केवल अकेवल शून्य अथवा अशून्य कुछ भी कहना युक्ति संगत नहीं होता. महामहिमसम्पन्न जिस तत्व का निरूपण करने के लिये वेदान्त जैसे बड़े दर्शन के निर्माण की आवश्यकता पड़ी, वेदान्त के उसी गहन तत्व का निरूपण, देखो तो सही कि हमने किसी भी शब्द को नियत किये विना कैसी अद्भुत रीति से और केवल दश ही श्लोकों में कर डाला है।

सुषुप्ति के समय आत्मा के जिस शुद्ध रूप की सूचना विवेकी को मिलती है उस समय निर्धूम अग्नि के समान जो एक तत्व शेष रह जाता है, शरीर इन्द्रिय आदि में से अध्यास के निकल जाने पर जिस दिव्य असहाय अवस्था का प्रादुर्भाव मननशील को होता है। इस पिण्ड के कारण उत्पन्न हुए माता पिता आदि व्यवहार के ज्ञानमहिमा से बन्द होजाने पर जो एक मात्र तत्व मुनियों के अनुभव में आता है, पूर्व आदि मिथ्या व्यवहारों के रुक जाने पर मौन का जो वातावरण साधकों को प्रतीत होने लगता है जब कुछ बोलने को साधक का जी ही नहीं चाहता तब शान्ति का जो व्यापक अखण्ड साम्राज्य ध्यानी लोगों को दीखा करता है, इन मांस मय देहों से आत्मा के पृथक सिद्ध हो जाने पर ज्ञान की छलनी में छनी हुई जो चीज़ ज्ञानी लोगों को हाथ आजाती है, इन सब मांस की झोंपड़ियों में इनको प्रकाशित करने वाली जो एक अखण्ड ज्योति चलती हुई पायी जाती है, सब कुछ की बाधा होजाने पर भी जो तत्व शेष रह जाता है, गुरु शिष्य आदि समस्त विकल्पों के छिप जाने पर जिस निर्विकल्प वस्तु की दिव्य सूचना ब्रह्माभ्यासियों को मिला करती है, ब्रह्मसागर गामिनी ज्ञानगंगा जब गुरु शिष्य के भेद रूपी समस्त प्रवाहों को लेकर सदा के लिये आत्मसागर में जा पड़ती है तब जो अखण्ड तत्व शेष रह जाता है, जिसे केवल कुशाग्र बुद्धि से ही देखा जा सकता है, जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं की बाधा हो जाने के बाद जो अवस्था हीन तत्व आध्यात्मिक लोगों को दीख पड़ता है तीनों अवस्थाओं के नष्ट हो जाने पर जो दिव्य असहायावस्था जो अलौकिक निरालम्बनता का भाव तथा जो स्पृहणीय अख-

रङना पुण्यशील हृदयों में निःशब्द भाषा में उदित हो जाती है उसी व्यापक परमहित स्वतः सिद्ध स्वावलम्बी आत्म वस्तु का वर्णन चाहे जिन विशेषणों अथवा चाहे जिन शब्दों से किया जाय परन्तु वे उसके यथार्थ स्वरूप को प्रगट नहीं कर पाते। उसमें कोई न कोई कमी रह ही जाती है। जिनमें से कुछ का संकेत मात्र वर्णन अब किया जाता है। देखो! पानी में पड़ कर लवण जैसे अपनी सुध बुध भूल जाता है वैसे आत्मा का स्मरण आते ही किंवा आत्म सागर में घुसते ही जब साधक को अपनी सुध नहीं रहती तो फिर शब्दों का प्रयोग तथा उनके प्रयोग के औचित्य का निर्णय कौन करे? उस समय अनुकूल शब्दों को कौन टटोले! अपने आत्मा को पृथक रख कर आत्मा का स्मरण अथवा वर्णन हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक पुरुष को 'मैं' पने का भाव ही नहीं रहता। फिर वह आत्मानुसन्धान के समय उसके विषय में किसी भी शब्द का प्रयोग कैसे और क्यों करे? यह आत्मा तो एक रसात्मक लिङ्ग है इसके गुणागुण की विवेचना ही नहीं हो सकती जिनके कि आधार से शब्दों का प्रयोग होना संभव हो जाता और आत्मा का वर्णन हो सकता। फिर स्तुति करने का प्रयोजन भी तो हमारी समझ में नहीं आता। किसी बहुमूल्य मणि को खण्ड खण्ड कर देने से हमतो उसे सम्पूर्ण रखना ही भला समझते हैं। उस अखण्ड आत्मतत्व का वर्णन करके उसके खण्ड कर डालना हमें नहीं भाता। फिर हम 'तुष्यतु दुर्जनन्याये' से उसकी स्तुति करें भी तो किन शब्दों से? 'आत्मा एक है' ऐसा कहने से आत्मा की स्तुति नहीं होती क्योंकि आत्मा को 'एक' कहने से दूसरे रूपी दोष का खटका

रह ही जाता है। जब आत्मा से भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं तो फिर ज्ञान निद्रा में सोये हुए उन्हें एक कह कर भी क्यों चौंका दिया जाय। और क्योंकर उनकी ज्ञाननिद्रा का भङ्ग कर डाला जाय? ऐसे उपाधि दूषित तथा संदेह उत्पन्न करने वाले शब्द भी उनकी शान में क्यों कर बोले जायें? यदि आत्मा को केवल कहा जाय तो ऐसा मालूम होता है कि आत्मा को केवल कहके किन्हीं दूसरे पदार्थों को उनके पास से हटाया जा रहा है। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि नन्हे से पौधे की रक्षा करने के लिये जैसे कांटों की बाड़ कर दी जाती है वैसे ही 'केवल' शब्द की बाड़ बनाकर उनको अछूता रखने की कोशिश की जा रही है। जबकि महामहिमसम्पन्न वह आत्मा अद्वैत रसात्मक लिङ्ग है तो उसे केवल या अकेवल क्यों कहा जाय? सर्वत्रव्यापक अखण्डअद्वैत आत्मतत्व को शून्य अथवा अशून्य क्यों कर बताया जाय? वास्तव में आत्मा का वर्णन करने के लिये मानवी भाषा का कोई भी शब्द उपयुक्त नहीं होता नन्हा बालक जैसे अपनी प्रत्येक आवश्यकता को रोने की अस्पष्ट भाषा में ही समझा देता है गूंगा जैसे बड़बड़ा कर ही अपने अभिभावकों से बातचीत कर लेता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मौन की नीरव भाषा में ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन कर लेते हैं। जभी तो 'अवचनेनैव प्रोवाच' उसने बिना शब्दों के ही मौन की गूँगी भाषा में आत्मा का वर्णन शिष्यों के प्रति कर दिया क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' वहां से तो उसका वर्णन करने को बड़े गर्व से चली हुई वाणियां अकृतार्थ ही लौट आती हैं, इत्यादि वर्णन श्रुतियों ने किया है। इस प्रकार कुछ न बोलने को ही आत्मा की स्तुति, कुछ न करने (यहां तक कि मन के सूक्ष्म स्पन्दनों को भी बन्द कर

लेने) को ही उसकी यथार्थ आराधना, तथा किसी संसारी विषय के संग में न बंधने को ही उसकी सेवा में उपस्थित रहना मान लेना चाहिये। भूमि जल तेज अथवा इस शरीर तक को भूल जाना ही उसका ज्ञान समझ जाना चाहिये। वर्णाश्रम की खिलवाड़ से त्यागपत्र दे देने का ही आत्मपरिषद् के सदस्य बनने का प्रार्थनापत्र मान लेना चाहिये। सांख्य शैव आदि के झमेले से छुट कर, ऊपर नीचे इधर उधर पूर्व पश्चिम आदि के बखेड़े को भूल कर, गोरे, काले, मोटे, पतले आदि के झगड़े में न पड़ कर, गुरु शिष्य के भ्रम में न आकर, जाग्रत स्वप्न के धोके में न फंस कर, अपनी व्यापक परमहित स्वतः सिद्ध स्वावलम्बी अवस्था को जगा लेने को ही उसको प्राप्त करना गिना जाना चाहिये। इससे अधिक और क्या कहा जाय कि जो साधक ध्यान करना भी भूल जाता है यह आत्म तत्व उसी विस्मरणशील (भुलक्कड़) पर प्रेम करता है, सम्पूर्ण विषयों को न जानने वाले ही उसे जान पाते हैं, मौन कर जाने वाले ही उसकी सम्पूर्ण स्तुति करने में समर्थ हो जाते हैं, अन्य कोई रूप न रहने पर ही उसका भान आत्मा को स्वयं ही हो जाता है, उसकी स्तुति का प्रसंग आते ही मानवी भाषा मर जाती है। जिस वस्तु को ज्ञान से भी नहीं जान सकते, जो ध्यान की पकड़ में भी नहीं आती जिस व्यापक तत्व को 'मैं' कहने पर भी किसी निरपराध को बन्दी बना लेने का महापातक लग जाता है, जो अखण्ड तत्व अनादि काल से लेकर ही चाण्डाल के स्पर्श के समान शब्दों के स्पर्श से बचा बचा फिरता है देखो तो सही कि उसी अगोचर और उसी अवर्णनीय आत्मा का वर्णन हमने कैसी सरल युक्ति से किया

है कि मानवी भाषा का त्रुटि रूपी एक भी कीला इस आत्म-शिशु को नहीं लग पाया है, मानो कोई बिल्ली अपने पैने कीलों से पकड़ कर अपने शिशु को दूसरी जगह रख गयी हो, और उसको उसके पैने कीले लेशमात्र भी स्पर्श न कर पाये हों। हमने वेदान्त के गुप्त रहस्य की धूल झाड़ कर उसके शुद्ध रूप का उद्धार कर डाला है। ज्ञानवारि के प्यासे मुमुक्षुओं के लिये परमार्थ की एक सुन्दर प्याऊ को दस डोलों के समान दस श्लोकों से लबालब भर दिया है, अज्ञानरूपी ताले से बन्द की हुयी ज्ञाननिधि को खोलकर देखने के लिये एक उत्तम चाबी बना दी है प्रकाशित करने योग्य पदार्थों के बिनाही प्रकाश की भरमार कर डालने वाली दश ऐसी मशालें जलादी हैं कि वही निगूढ़ आत्मतत्व बन्दी के समान हाथ जोड़कर हमारे पाठकों के सामने खड़ा हुआ सा प्रतीत होने लगा है। यदि किसी को यह शंका होती हो कि वाणी के विषय में न आने वाले ऐसे आत्मतत्व का प्रतिपादन फिर वेदान्तों ने कैसे किया है और वे इस तत्व के लिये प्रमाण भी क्यों कर मान लिये गये हैं तो उसका समाधान यह है कि यद्यपि आत्मा अविषय ही है परन्तु केवल आत्माकार वृत्ति कर लेने से ही आत्मविषय की अविद्या को नष्ट करके वेदान्तों ने इस तत्व के प्रतिपादन में सफलता पायी है तथा इसी कारण से उनमें प्रामाण्य भी आगया है। अविद्या रूपी इंधन के निवृत्त हो जाने पर जो शान्त-तेजस्वी तत्व शेष रह जाता है सम्पूर्ण वेदान्त उसकी ओर को ही संकेत कर रहे हैं। साधारण दृष्टि को रखकर अपने से भिन्न जिस किसी तत्व को ब्रह्म अथवा अपना उपास्यदेव समझ कर उपासना की जाती है वह तो ब्रह्मतत्व है ही नहीं। जभी तो

'नेदं यदिदमुपासते' यह बात बारबार कही गयी है। यदि वह तत्व उपास्यरूप में तुम्हारा विषय बनता हो तो समझ लेन कि अविषय आत्मा तक तो अभी तुम्हारी गति (पहुँच) ही नहीं हो पायी है। इस प्रकार जब वेदान्त के महावाक्यों से अखण्डाकार वृत्तिका जन्म हो जाता है और अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो अविद्या के पुत्र सम्पूर्ण अनर्थों में सहसा ही महामारी सी फैल जाती है। उसके पश्चात् साधक की परमानन्दता का आविर्भाव होता है और कृत-कृत्यता का महासमुद्र ही अपनी बनावटी मर्यादा को छोड़ कर उमड़ पड़ता है और तब वह आत्म सागर अब तक तीनों तापों रूपी दहकते हुए अंगारों से भरी हुई संसार रूपी रसोई में रहने वाले मुनि लोगों को धोती पर धरे हुए महापोतों के समान उठा कर अपने अन्दर तैराने लगता है। आइये हम भी उन्हीं महापोतों के समान उसी आत्म सागर में स्वच्छन्द विहार करना सीखलें।